धूल भरे पाँव

गुलाब सिह

सजय बुक सेन्टर, गोलघर, वाराणसी

सजय बुक सेन्टर
K 38/6 गोलघर, वाराणसी 221001
द्वारा प्रकाशित
प्रथम सस्करण 1992

शुभम् कम्प्यूटर्स द्वारा
कम्पोजिग चारु प्रिन्टर्स
द्वारा मुद्रित

Rs 40 00

DHUL BHARE PAON
BY Gulab Singh

समय और माटी के रंग

एक ओर तरह देने वाले इरादे है, दूसरी तरफ ढेर सारा गुस्सा । बीच मे है आज की आम ज़िन्दगी । इस समय जो कुछ हो रहा है, वही सच है और जिस ढग से हो रहा है, वही नैतिकता है । अब 'सत्य' और 'नैतिकता' किसी आइने या कसौटी की तरह नही है, कि इन्हे किसी के चेहरे या चरित्र के सामने रख दिया जाये । किन्तु फिर भी जो वैसा सोचते है, वे आज की 'सफल' ज़िन्दगी से अलग, एक अवशता और अकुलाहट का अनुभव करते होते है ।

जो जितना ही सवेदनशील है, वह उतना ही इस अनुभव के बीच है ।

बैठना किसी को नही है, शर्त चलते रहने की है । हर कोई चलता चल रहा है । पसीने से तर-ब-तर और पस्त । जो नही चल पा रहे है, उन्हे चलाने की कोशिश की जा रही है, घिसे हुए सिक्के या मुड़े-मुड़े नोट की तरह ।

थकान मे समझ ढीली होती जाती है, उसी अनुपात मे गुस्सा बढ़ता जाता है । काफी बढ़ जाने के बाद उतरने की जगह तलाशता है । जिन लोगो या स्थितियो पर गुस्सा है, उनका कुछ भी बिगाड़ पाना सभव न देखकर आदमी अपने आप को कुढ़ता है । वह कुढ़ रहा है ।

गुस्सा, बेबसी, तगदस्ती, थकान, कुढ़न, तनाव और गतिशीलता । इन सुर्खियो से तैयार शर्तनामे का हर अक्षर आज की दिनचर्या का विवरण है ।

इस दिनचर्या के चारो ओर जनतत्र का राजनीतिक बाड़ा बना हुआ है, जहाॅ सब कुछ समझने की स्वतत्रता तो है, किन्तु कुछ भी सोच ाने के लिए फुरसत और थोड़ी भी कर पाने का अवसर नही है । जनतत्र, जनमत से बनता है और जनमत का अर्थ होता है जनता की राय । देश को जब भी जनता की राय जानने की जरूरत होती है, लोग गाॅवो और गलियो के दौरे करने लगते है । यह प्रसग देश और गाॅव के अटूट रिश्ते को अक्षुण्ण रखता है । गाॅव जो अब शहर के अनुगत है, हर ऐसे मौके पर महत्वपूर्ण हो जाते है, क्योकि आबादी का तीन चौथाई हिस्सा वही बसता है । वहाॅ कुछ ऐसे लोग है, जिनके मकान पक्के है, उनमे बिजली है । ऑगन मे पक्का कुऑ, सामने बैठक, दरवाज़े पर लोहे का बड़ा-सा फाटक है । ऐसे घरो के मालिको के नाम अमूमन ब्लाक प्रमुख, प्रधान, उपभोक्ता समिति सचिव, सहकारी बैक अध्यक्ष, कालेज प्रबन्धक बगैरह होते है । ऐसे घर का बड़ा लड़का विदेश मे अपर अभियन्ता का प्रशिक्षण लेता होता है, मझला लड़का देश मे किसी शहर कोतवाली का कोतवाल होता है और छोटा लड़का विश्वविद्यालय या महाविद्यालय के छात्रसघ का महामत्री ।

इनके लिए कहाॅ है गाॅव ? गाॅव के लिए कहाॅ है ये ?

जिसका कोई न कोई हिस्सा बारिश मे गिरने वाला है, जिसके एक कोने मे बाबू की खाट, सिरहाने भूसे की कोठरी, पैताने एक जोड़ी बूढ़े बैल, ऑगन मे तुलसी का पौधा, रसोई मे कॉसे की थाली, खपरैलो मे गिरगिट, छिपकली और सॉप, दीवारो मे चूहे, दीवट पर चिमनी, दरवाजे पर ॲधेरा होता है इस तरह का भी घर उसी गाॅव मे होता है । ऐसे घरो के समूह के कारण ही वह आज भी गाॅव कहलाता है । ऐसे घरो के लोगो के नाम पडित भिखारी दास दूबे, ठाकुर मरजाद सिह, पितरू तेली, पचम लोहार, घुरहू सोनार, घुम्मन अहिर, कल्लू कुॅजड़ा, और चतुरी चमार वगैरह होते है ।

इनके लिए कहाँ है देश ? देश के लिए क्या है ये ?

यह तसवीर का महज़ एक पहलू है । ग्रामीण पहलू । इसी तरह शहर और कस्बो मे भी कई तरह के घर, सड़के और गलियॉ होती है । महानगरो और कस्बो की आधी आबादी के लिए फरागत की जगह और बाल्टी भर पीने का पानी जैसी अहम उपलब्धियो के सामने, साहित्य, जीवन मूल्य, मानवता-जैसी शब्दावली अबूझ पहेली बन कर रह गई है ।

जीवित रहने के मौलिक अधिकार और मरने के मौलिक कर्तव्य के बीच जाहिर है कि 'पानी की एक-एक बूँद कीमती है' बनिस्बत साहित्य के एक-एक अक्षर के । परसो तक देश भर की नदियो मे रेत के बगूले उठते थे, आज निगोड़ी हर नदी खतरे का निशान छू रही है। मौसम, मानसून अर्थात प्रकृति की इस आवारगी के आगे, आखिर विचारो का कितना बड़ा बाँध बनाया जाय – यह एक शाश्वत प्रश्न है । शाश्वत प्रश्न और शाश्वत मूल्य जैसी चीज़ो को दर किनार रखकर ही आधुनिक हुआ जा सकता है । इस अर्थ मे और कुछ हुआ-न-हुआ, शासन का 'आधुनिक' होना अपरिहार्य होता गया । वह आधुनिक हो गया है ।

गॉव देश, आबादी, जनतत्र, पानी, आधुनिकता, डीजल, विदेश, साहित्य, कोशिश, विश्व शाति, मनुष्य इत्यादि । कितना गडमड है सब कुछ ?

'सरकार द्वारा उपलब्ध कराया गया सस्ता कागज़' इस बात का गवाह है कि मँहगी चीज़े उपलब्ध कराने वाली सस्था कोई और है । उस सस्था या सस्थावान की खोज, आज के आदमी द्वारा, आज के आदमी की सबसे बड़ी खोज है ।

ऊसर और रेगिस्तान कम करने का जिम्मेवार भूमि सरक्षण विभाग है मगर दिमागी ऊसर बढ़े तो दस्तक कहॉ दी जाय ?

'आज हमारे सामने तमाम नये प्रश्न उपस्थित है ।' आखिर क्या अर्थ है, इस वाक्य का ? क्या हमने बुनियादी सवालो से मुक्ति पा ली ? अथवा क्या हमे पिछले तमाम अनुत्तरित प्रश्नो से अपने आप को अलग कर लेना चाहिए ? अथवा क्या हमने सारे पुराने प्रश्न हल कर लिए ?

हम प्रश्नो से घिरे थे, है और रहेगे । सवाल नए-पुराने प्रश्नो का नही, वाजिब और अनसुलझे प्रश्नो का है । गलत उत्तरो की तर्क सगति के लिए, गलत प्रश्नो को गढ़ने की आदत कैसे छूटे, यह भी एक कीमती मुद्दा है ।

इन्ही स्थितियो, प्रश्नो और मुद्दो के बीच आज का साहित्य है । 'वैज्ञानिक' प्रगति के अनुपात मे ही जीवन मूल्यो की अधोगति जेसा वैपरीत्य, वर्तमान विश्व का सब से बड़ा आश्चर्य है और दोनो को समानान्तर चलाना ही सब से बड़ी समस्या ।

इस तरह की समस्याओं से जूझने का बहुत कुछ जिम्मा साहित्य का हुआ करता है । इस प्रतिबद्धता के चलते वह विसगतियो, विगलित जीवन स्थितियो को उघाड़ रहा है । जाहिर है कि इस नगी तसवीर का खुरदुरापन 'क्षण-क्षण नवीनता धारण करने वाली' सुकुमार सुन्दरता की कायल दृष्टियो मे कॉटे की तरह करकेगा । इसीलिए सामयिक सामतो, महतो और महानो का ाानना है कि 'कुछेक' के अलावा आज साहित्यिक 'हई' कहॉ है ? होते तो उन्हे सूरत और म्पई के मूविग हॉल वाले होटल, कश्मीर का सूर्यास्त, बनारस का सूर्योदय, फूलो की घाटी, ाराई की चिमनी, भाखरा की झील, ससद की समझदारी, देश की महानता, इतिहास का वैभव-ना दिखाई पड़ता । लूट-खसोट, आतक, असुरक्षा, भूख और गलाजत, तग बस्तियो की

बिलबिलाती नालियाँ और भिनभिनाते लोग, बलात्कार, आत्महत्या, नगापन, कर्ज़दारी, झूठ क्या यही सारे विषय या उपजीव्य है ?

कौन इन्कार करेगा कि उपर्युक्त दोनो पक्ष अपने समय के दो सत्य नही है ? तब दूसरे पक्ष जो पहले से कई गुना विस्तृत है- से ऑखे मूँद लेना कैसे सभव होता । फिर प्रथम पक्ष को प्रतिभाषित करने के लिए, क्या व्यवस्था के उत्साह वर्द्धक ऑकड़े कम है ?

आज साहित्य की हर विधा मे शिल्प और शैली का फर्क हो सकता है, विषय और वस्तु का उतना नही । 'नवगीत' आज की एक सशक्त विधा है । सच्चे नवगीतकार की ऑखे खुली है । उन पर न ओढ़े हुए आभिजात्य का चश्मा है, न ही उनकी ज्योति किसी सावन मे जाती रही है। देश की मिट्टी और उसकी सुगन्ध से सस्कारित यह काव्यविधा अपनी अलग पहचान बना चुकी है । यह भारतीय कविता की निजीधारा का अद्यतन रूप है । अपने समय मे काव्य तथा साहित्य के प्रचलित अन्य रूपो से इसका कोई विरोध नही है । 'रामचरित मानस' 'राम की शक्ति पूजा' अथवा 'गोदान' मे विरोध खोजने की बात ही क्यो उठे ?

आज का हर साहित्यिक सर्जक, हर विधा की बारीकियो से परिचित होना चाहता है । कई मे जोर आजमाइश भी करता है, किन्तु सामर्थ्य और सभावनाओं के आत्म परीक्षण के बाद, अपने ,खद्के माध्यम की तलाश करता है । यह तलाश माध्यम विशेष तक आकर ठहर नही जाती, बल्कि उसके मान्य स्वरूप के विस्तार की उन दिशाओं मे मुड़ जाती है, जिनमे निखार और निजता के नये आयाम आगत समय मे छिपे होते है । गीत कविता अपनी इसी यात्रा के जरिये 'नवगीत' तक पहुँची है । नवगीत आधुनिक जीवन की सवेदनाओं से जुड़ी अनुभूतियो की छान्दसिक अभिव्यक्ति है ।

परिवेशगत भाषा तथा आचलिक और लोकतात्विक सवेदनाओं की ऋजुता कुछ 'विचारको' को इतनी 'ठेठ' और 'पिछड़ी' लगती है कि वे नवगीत को एक 'विगत विधा' मानने लगते है । ये वही लोग है, जो हर विषय मे धड़ल्ले से अपनी वैचारिक टॉग लड़ाते है । इन्हे किसी भी विषय या साहित्य के किसी रूप अथवा उसके मर्म की आधिकारिक जानकारी नही होती । ये 'डाक्टर्स डायलमा' के पत्रकार पात्र की तरह होते है । इनकी हामी और नकार के आग्रह-दुराग्रह से निश्चित नवगीत की रचनात्मक यात्रा मे कोई अवरोध उत्पन्न नही हो पाया है, यह इसकी क्षमता और प्रासगिकता का प्रमाण है ।

आधुनिक जैसे मूल्यगत बोध से आन्तरिकता की स्थिति तक जुड़कर ही नवगीत वर्तमान जीवन की विसगतियो और वर्जनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति कर सका है । शोषण और गैरबराबरी के आर्थिक सवालो से टकराकर, शोषित, दलित, कुण्ठित और हताश व्यक्ति और समाज की आवाज को असरदार बनाने मे इसने सक्रिय भूमिका निभाई है । इस सबसे गीत की पारम्परिक विधागत रचनात्मक सीमाये टूटी है और सामर्थ्य मे नई विश्वसनीयता आई है, साथ ही यह बात भी चटख होकर उभरी है कि उपलब्धि के लिए निरपेक्षता कितनी अनिवार्य शर्त है ।

नवगीत की रचना प्रक्रिया मे, सवेदना की सघनता, एक सयमित वैचारिकता से दोलित होकर, अनुभूति की धुरी पर तेज़ी से घूमती हुई, एक ऐसे लयात्मक वृत्त का निर्माण करती है, जिसमे भावात्मक ऊर्जा और सप्रेषण की त्वरा होती है । अभिव्यक्ति और अर्थ विस्तार के हर सभव स्वरूप के बाद लयात्मक वृत्त का घुमाव स्थिर हो जाता है । भावोन्नयन (कैथार्सिस) इसका एक

महत्वपूर्ण बिन्दु है । यही कारण है कि नवगीत खीच कर लम्बा नही किया जा सकता । इसकी सक्षिप्ति और पैनेपन के कारण ही वर्णनात्मकता समाप्त हो गइ है । भाव और विचारो के समन्वित दबाव का घनत्व एक से दूसरे फिर तीसरे नवगीत तक चलकर क्या ऐसी श्रृखला का निर्माण कर सकता है, जो इसके लिए प्रबन्धात्मक चुनौती का स्वीकार बन सके ? यह अपेक्षित सभावना आगत चिन्तन से सम्बद्ध है ।

नवगीत का रचना क्षेत्र विस्तृत है । आज के बहुआयामी जीवन का हर कोना, इसके विषय से जुड़ता गया है, इसीलिए इसकी वस्तु मे एक ताज़गी और टटकापन है । परम्परागत गीतो से भाव और भगिमा, कथ्य और शिल्प छन्दानुशासन और सप्रेषण की भिन्नता के साथ यह ताज़गी हर स्तर पर देखी जा सकती है ।

निजी सुख-दुख, आशा निराशा को लेकर लिखे गए नवगीतो मे भी समकालीन सामाजिक पीड़ा और सघर्ष की व्यथा को साफ देखा जा सकता है । यह समष्टिगतता नवगीतकार की कलागत सिद्धि है । इसी सार्वजनिक अनुभव–दृष्टि ने उसे बिना किसी फतवे और घोषणा के, सामाजिक विघटन और मूल्य क्षय रोकने मे प्रभावी हिस्सेदारी निभाने को तत्पर किया है।

हजारो वर्षों से समाज-व्यवस्था धर्म और राजनीति से सचालित रही है । समकालीन स्थितियो मे यह ऐतिहासिक तथ्य और भी व्यापक हुआ है । अनेक नवगीत, रचनाकार और उसके परिप्रेक्ष्य से जुड़ी जागरूकता की प्रतीति कराते है । साथ ही यह प्रत्यय भी जगाते है कि ह्रासमान नैतिकता और नकल के दबाव से खड़ा किया गया बड़ा से बड़ा आन्दोलनात्मक झूठ भी झूठ ही है।

सस्कार हीनता, शोख किन्तु क्षणिक रगो के पीछे की दौड़, सास्कृतिक विरासत से अलगाव, मूल्यो के छद्म और बहुमुखी बिखराव के कारण विखण्डित राष्ट्रीय चरित और मौखिक मानवतावाद के सकट और सदर्भ आज साहित्य से समाधान की अपेक्षा रखते है ।

रास्ते जब भी उलझने लगते है चलने वाले चलकर वही के वही वापस आने लगते है । तब सामाजिक दर्शन की मुद्रा लोकाभिमुख होने लगती है । गॉवो और अचलो के अप्रतिहत विस्तार जगह देने लगते है ।

पॉचवे दशक मे कथा-कविता के माध्यम से ग्राम्य जीवन की आचलिक अनुभूतियो को ताज़ा अभिव्यक्ति मिली थी । आगे चलकर यह झोका मन्द-सा पड़ गया । इधर आठवे दशक के नवगीतो मे लोकतत्व के सस्पर्श की ललक, एक नई चेतना के साथ जगी है । समसामायिक सदर्भों को भी लोकतत्व की भूमिका मे उभारने की कोशिश आज के नवगीतकार के आवेगशील प्रत्यय की जीवन्त उपलब्धि है । लोक जीवन का यह अटूट आकर्षण तब तब चटख रगो के साथ उभरता है जब-जब एक रसता और अभिव्यक्ति का सकट आता है। लोक तत्व समूचे जीवन के सास्कृतिक बहाव का उत्स होने के कारण अनन्त है ।

नवगीत के शिल्प और भाषा मे आये इस बदलाव के साथ ही एक अन्ध अनुपद दौड़ भी शुरू हुई । बहुत-से 'नवगीतकार' आचलिक और बोलचाल के शब्दो का मुलम्मा चढ़ाकर अनगढ़ प्रस्तुतियो की एक दौड़ मे शरीक हो गए । जाहिर है कि जो शब्द घुल-पचे नही थे, वे अपनी जगह से कची अनसधी कलमो की इन कारगुजारियो की गवाही देते ।

इस तरह के शब्दो के प्रयोग जहॉ प्रसगानुकूल थे, वहॉ चमक रहे थे, जहॉ जबरन घसीटे गए थे, वहॉ कराह रहे थे ।

बोल चाल की शब्दावली मात्र का आश्रय भाषा की मुख्यधारा के साथ अन्याय है, उसी तरह भाषा का एक खास स्वरूप निर्धारण भी हठधर्म है । आदिकाल से अब तक जो कुछ भी हिन्दी मे लिखा गया, वह सब हिन्दी है । त्याज्य और अपरिग्रही वह है, जो हिन्दी मे तो है, मगर साहित्य नही है ।

गूँगे गॉवो तक की यात्रा मे शहरो की चहल-पहल भी दिखती रही है किन्तु जब तब । जन्म और जीवन से जुड़ा ग्रामीण परिवेश ही अधिक बॉधता रहा है ।

गॉव के अधगिरे शिवाले का शखनाद, आज भी डूबते सूरज का पीछा करते वन-पाखियो के कलरव मे घुलकर, जिस सगीत की सृष्टि करता है, वह मानव मन को बरबस खीच लेने मे उतना ही समर्थ है, जितना पहले था ।

ग्राम देवता की प्रस्तर प्रतिमा के ऊपर फैले सघन पीपल के परकोटे पर पख फड़फड़ाते बगुले, सफेद फरहरे की तरह हवा मे लहरते है । इस हरे मदिर के सामने की झोपड़ी से निकलती श्वेत वसना दादी अपने झुर्रियो भरे चेहरे पर स्थित प्रज्ञता विखेरती सूरज, मघ्या, शिवाले और पीपल को एक साथ प्रणाम करते हुए साक्षात् निर्वेद हो जाती है । मेड़ो से उठती किशोर खिलखिलाहटे, गोशाले से आती प्रौढ़ झिड़कियॉ, दादा के गुरु-गम्भीर चेहरे की झलक पाते ही मौन मे बदल कर मर्यादा को मूर्त कर देती है । जीवन के इस अनन्त वैभव की मिसाल सिर्फ लोक तात्विक है । अनक नवगीतो मे मूल्य-प्रसूता ऐसी धरती तथा स्वत स्फूर्त जीवन के ऐसे तमाम बिम्बो और विधानो को छूने की कोशिश की गई है ।

आज की सामाजिक टूटन का सब से पीड़ादायक पहलू यही है कि सास्कृतिक धरोहर के पहरुए ये गॉव भी हार मानने लगे है । छल, प्रपच, झूठ, दिखावा और टुच्ची राजनीति की मार से इनकी आत्मा कॉप उठी है । सदियो से सचित भारतीयता के ये सरक्षक भी प्रभाहीन होते जा रहे है । साहित्य ही इनकी करुणा को ओज दे सकता है कि अपने पैरो के नीचे से अपनी धरती छीनने वाली काली छायाओं के खिलाफ अपना गूँगापन तोड़ दे ।

अनैतिक सुविधावाद की पुरजोर दौड़ से दूर छप्पर फूस और कच्ची मेड़ो की इन्ही सरहदो से इन्ही गूँगो के साथ आगे का इन्सान और उसका इकलाब भी देखना चाहता हूँ और यही से, इसी धरती से देखना चाहता हूँ अतरिक्ष और सारा ब्रह्माण्ड ।

अपने निकट प्रतीक्षा और प्रयत्न का अर्थ है- इन गूँगो की सार्थक मुखरता । और इस सार्थक मुखरता तक पहुँचेगे धूल भरे पॉव ।

- गुलाब सिंह

अनुक्रम :

गूँगे गाँव तक

आग तो बचाना	४
सपने ओढ़े	५
गाँव मेरा	६
कैसा इतवार	७
घाट-घर के फासले	८
गूँगे गाँव तक	९
नन्हा सूरज	१०
अँधेरे की अरगनी	११
दो रोटियो का सुख	१२
बाढ़ १९७८	१३
तने माथ तक	१५
काई लगे फर्श पर	१६
घर के दिन	१७
सोच रहा गाँव	१८
सारी आँखे पेट हो गईं	१९
छोटी-सी दिल्ली	२०

छूटते शैवाल तट ने बंदगी की है :

बरसे मेह मुँडेर	२२
पतियन मत्र झरे	२३
कहे तो क्या कहे	२४
जाल हो गए दिन	२५
कल के कधे	२६
खालीपन	२७
दूध भरे दिन	२८
पत्थर पर दूब	२९
कौन विरागी	३०
चेहरो के बौर	३१
छूटते शैवाल तट ने बदगी की है	३२

स्वयं के फासले ·

उसूलो की सीढ़ियाँ ३४
दिन को भी तारे ३५
शब्दो के साथ ३६
धार-धार ३७
आ—द—मी ३८
मिट्टी की तासीर ३६
शब्द बोते ४०
ठहरा हुआ इतिहास ४१
बदले सदर्भों मे ४२
ये दिन भी मेरे ४३
पहरुए ४४
बच्चे ४५
रोटी या राम-नाम ४६
नाम तक बिसर गए ४७
बन्धु मेरे ४६

एक अजब ग्लेशियर किनारे ·

झाड़ी मे सुरखाब ५१
प्रश्न-वृक्ष ५२
वक्त का जगल ५३
वसत (१) ५४
वसत (२) ५५
फूल वाले रास्तो पर ५७
रह गई कहानी ५८
अपने-अपने सत्य ६०
युद्ध विराम ६१
झण्डो-से ६२
पत्ते नही हिलते ६३
आठवाँ दशक ६४
धुआँ पिये ६६
प्यास के परिन्दे ६७
एक अजब ग्लेशियर किनारे ६८

गूँगे गाँव तक

बेर की टहनियो मे लटके चमगादड़,
और आमो की नस-नस मे कौवो का कॉव-कॉव
ढोरो के झुण्ड फिरे वशी की टेरो पर,
धरती के धीरज-सा झलक रहा गॉव-गॉव ।

आग तो बचाना

टपरे का पोर-पोर टपके
ओ बादल!
कोने की आग तो बचाना ।

आग यही जतनो से
पाली है,
बाकी तो सारा घर-
खाली है ।

गहरते अँधेरो मे जाग-जाग
पड़ता है इसी को जलाना
ओ बादल !
कोने की आग तो बचाना ।

पानी से नेह तुम्हे,
अपनी भी उसी से सगाई,
ओ रे सहगोती !
गाँवो के देश की दुहाई ।

आग मेरे पुरखो की थाती
बौछारो से नही बुझाना
ओ बादल !
कोने की आग तो बचाना ।

सपने ओढ़े

घर-ऑगन चौपाल-चौतरा,
झाड़-बुहार गई ।
बड़े सकारे किरन ओसारे,
पाटी पार गई ।

दिन भर थकी
सॉझ को लौटी
बूढ़ा बाप
धरे सगुनौटी

धूप सरीखी धिया हमारी
चौखट तार गई ।

सपने ओढ़े
आस बिछाये
गुमसुम लेट गई
बिन खाये

भरी उमर मे देह, नीम की-
सूखी डार हुई ।

गाँव मेरा

शब्दो के हाथी पर
ऊँघता महावत है,
गाँव मेरा
लाठी और भैस की कहावत है ।

शीत-घाम का वैभव
रातो का अधकार,
पकते गुड़ की सुगन्ध
धूल-धुएँ का गुबार ।

पेट-पीठ के रिश्ते
ढो रहा यथावत है ।

धूप मछुवारिन के-
जाल फँसी रोहू-सी
इसकी हर हैसियत
गरीब की पतोहू की ।

दो रोटी धोती को
आपसी अदावत है ।

घोड़ो के लिए उगी-
घास है, बगीचा है,
कुर्सी के पाँव-तले
गुदगुदा गलीचा है ।

हर पँचवे साल
प्रजातत्र की सजावट है ।
गाँव मेरा- - - -

कैसा इतवार

छोटू की छान
कही आड़ न किवाड़,
घुस आई सर्द हवा
देहरी के पार ।

बुढ़िया सिसकारे
ज्यो चूस रही गन्ना,
फूस की सुरग बीच
कॉच का अधन्ना ।

सहिजन के ईच-बीच
किरण का पसार
दादा की मिरजई मे
छाती का बार ।

धूप हरजाई चढ़ी
ठाकुर के अटा,
कथरी कलमॅुही छुए
पॉव गड़ा कटा ।

गाली दे मॉ
हुआ कब से भिन्सार,
गॉव की मजूरी मे
कैसा इतवार ?

घाट-घर के फासले

बीतरागी गॉव से
गुजरे हजारो जलजले ।

झुर्रियो से भरे बापू
नारियल पीते ।
गए सारे दिनो के
पर्याय-से जीते ।

चिलम मे चिनगी चिलकती
धुऑ होते हौसले ।

एक पल देखे
फसल का
खेत मे पकना ।
एक पल देखे
नदी-सी
बाढ़ती बहना ।

पकी मूँछो मे उलझ कर
रह गए कुछ फैसले ।

हाथ गोबर से भरे,
अम्मा उठा लेती घड़ा ।
गढ़े गहरे हो गए,
गलियार कीचड़ से भरा ।

दो कदम तो रोज बढ़ते
घाट-घर के फासले ।

गूँगे गाँव तक

चौराहे पर
सुद्धू काका भी जी रहे,
कितने ही वर्षों से
चमरौधे सी रहे ।

आती-जाती
माला-फूल-सजी गाड़ियाँ
टोपियाँ, उन्हे लगी-
चढ़ाव की पहाड़ियाँ ।

उनके तो पुरखे
बस
बात के धनी रहे ।
कटे-फटे जूतो से

पूजनीय पाँवो तक,
शहरो की चहल-पहल से
गूँगे गाँवो तक ।

काका,
प्रश्नोत्तर मे
उठी तर्जनी रहे
कितने ही वर्षों से- - - -

नन्हा सूरज

आया है भइया परदेस से
घर मे
मनचाहे मेहमान-सा ।

साहब का बेटा आशीषती,
[illegible]ती गा-गा
अनाज पीसती ।

दीपक की
पीली-पीली लौ मे,
हल्दी की बरखा से भीजती ।

भाभी का तन-मन
कत्था-चूना पान का ।
भइया,

इस घर का नन्हा सूरज
कई थके पाँवो का-
रैन बसेरा,

भीने-से
महकते पसीने से
तोड़ [illegible]

अनफूले मौसम का घेरा ।
लिए एक चेहरा
हम सब की पहचान का ।

अँधेरे की अरगनी

पथ अगोरते
दिन बिसूरते
ठिठके ठडे पॉव ।
उलझ गए बन्धन के डोरे,
हाथ नही-
जो, बढ़ कर छोरे।
लॅगड़ो को कब कहॉ मिला
सरपट भगने का दॉव ।
कड़े-छड़े
दादी की बोली,
महतो की अधगिरी हबेली।
ॲधियारे की तनी अग्गनी
झूल रहा है गॉव ।
माथ दिये या सीना ताने,
सब रतजगे
हुए बेमाने ।
हर आखर धोखे मे धोकर
क्यो गुहराते नॉव ।

दो रोटियो का सुख

हरे लहरे खेत से
टहकारती सोनापतारी
ले रहे बाबा हरी का नाम ।
खीचती अम्मा पकड़ कर कोर चादर की
उठी दादी
जगी अँगड़ाइयाँ,
खनकता आगन खँगरते बर्तनो से
लीपती चौका-ओसारा
भोर-सी भौजाइयाँ ।
दोहनी मे धार बजती है
सितारो-सी
सुबह के सगीत होते काम ।
भोगते दो रोटियो का सुख,
झुके दादा
कमर पर हाथ दे सोटा उठाया,
टहल कर खलिहान पोखर
गाँव, अपनी बड़ी दुनिया
नीम के नीचे वही आसन लगाया ।
पीठ पर चिपका हुआ मुन्ना
चिकोटी काटता
खींच कर हँसता बुढ़ापा कान ।

बाढ़ - १९७८

अनपेक्षित युद्ध
बिना किसी के प्रचारे
हारे हम
पानी से हारे ।

खेतो से मेड़ो,
मेड़ो ऊपर खाई,
पेड़ो की चोटी तक
लहर की चढ़ाई ।

उठती जल-कारा की
ऊँची दीवारे ।

ऑखे रोना भूली
रस्ते भूले पॉव,

शवो की कतारो मे
तैरते तनाव ।
एक नदी सौ-सौ होकर
हाहाकारे ।

कत्लगाह-से हुए
कछारो के घर-मुकाम,
पशु-पक्षी बूढ़े-बच्चे
सब को कर तमाम ।

उतरे जलवाहो के
जालिम हत्यारे ।

शहर और गॉवो की
टूटी सीमाये

छप्पर पर शीशे की
खिड़कियॉ, बही जाये

भला कौन धार की-
चुनौती स्वीकारे?

सब कुछ ही बिना रक्तपात
लाल-लाल हुआ,

उन्नीस सौ अठहत्तर
देश का दुकाल हुआ ।

हाय, यह लड़ाई हम
खड़े-खड़े हारे,
बिना मौत मरे
महज़ पानी के मारे ।

तने माथ तक

डालो फूले
भ्रम रगो के
जालो झूले नाम ।
गए दिनो के दिन बेपरखे
शामो के
रगीन अँगरखे,
तरी पुरानी पालो सरके
हवामुखी मस्तूल गुनरखे ।
टीलो चढ़ा
कँदीले उतरे
शीशो चमके घाम ।
प्यासी डोर कुएँ तक लटकीं
नदी किनारे
छाया वट की,
सागर सुनता ताल लहर की
बादल सोचे घट पनघट की ।
तने माथ तक
हाथ उठा के
करने लगे प्रणाम ।

काई लगे फर्श पर

रामदीन
अँधियारे की कुछ पर्तें फाड़ रहे,
खुरपी लेकर
मरी भैस की खाल उतार रहे ।

पुश्तैनी पूँजी सपनो की
हाड़-चाम के धन्धे,
हाथो से मुँह तक की दूरी
मोड़ अटपटे अधे ।

काई लगे फर्श पर
कब से
पॉव उभार रहे ।

रामदीन से
रमदिनवॉ तक
हर औकात समोते,
कधे हुए निढाल
दूसरो की बदूके ढोते ।

कब से इनको, कितने-
कितने
ईश्वर तार रहे ।

घर के दिन

गॉवो के फैले हाथो मे
ज्वार-बाजरा बॉट कर,
धूप चढ़ रही फिर अटो पर
सब के कन्नी काट कर ।
बप्पा सिर पर
हाथ रख लिए
मॉ बैठी मन मारे,
टूटी छत के तले
भाइयो के
अतिम बॅटवारे ।
घर के दिन सो गए
शाम की-
सिली पिछौरी साटकर ।
बच्चे जैसे-
खुले महाजन के-
खातो के पन्ने,
बूढ़े लगते है
मुनीम के-
अद्धे और पवन्न
बहन,
चौधरी की मर्जी-सी
बिरादरी के टाट पर ।

सोच रहा गाँव

घास घुए का कुरता
धुएँ का मुरैठा,
सोच रहा गॉव
नीम गाछो सॅग बैठा ।

साझे की चिलम गई
गया भाई-चारा,
मना करे राह
कोई
रोके कुऑ-तारा

टोला पट्टी पड़ोस
जला भुना ऐंठा ।

चाहो भर दूरियॉ
उछाहो भर बोलियॉ,
अब न रही
बढ़के
बॉह गहती हम जोलियॉ ।

कजड़िन हवा लाई
कुसमय कनपैठा ।

नकचढ़ी नहर
परती, पानी, पचायत,
उड़सी
फिर बिछी
जात-पॉत की बिछायत ।

सुलगे सबन्ध सभी
ज्यो गीला गोइठा ।

सारी आँखे पेट हो गई

ओढ़ नई उजरौटी
गॉव-गिरॉव हुए निर्मोही
सूनी-सूनी जगत कुएँ की
प्यासे गए बटोही ।
मैला ऑचल,
पाग पुरानी,
लाज बड़ी, दिन खोटे,
छानी-छपरो-बीच
झलकने लगे दुमहले कोठे ।
धनियॉ गुलकी
भले दिनो की
करती जोहा जोही ।
अमराई बॅसवारी
हारिल बसे न कोयल कूके,
मैना, लाल, परेई दुबकी
देख-देख बदूके
सारी ऑखे
पेट हो गई
कान हुए सुर-द्रोही ।
महुए नही मुकदमे फूले
लाठी फले बगीचे
जिनकी बॉहे नदी खून की
पच पॉव के नीचे
लगुआ की छलनी छाती पर
लटके सूद-सिरोही ।

छोटी-सी दिल्ली

बदल गया ढब सारा
परिचय पहचान का
तन बदला मन बदला
गॉव-घर सिवान का ।
मुखिया थे 'मुख-से'
सरपच हुए पेट से
बातो की एवज
सबन्ध जुड़े टेट से ।
नहर गॉव भर की है
पानी परधान का ।
सूने-सूने अलाव
शाम बिन ठहाको की
चर्चाये औरो की
कटी हुई नाको की
छोटी-सी दिल्ली
हर कोना दालान का ।

छूटते शैवाल तट ने बंदगी की है

दूर धुँधले क्षणो के सतरगिए उड़ते पखेरू
श्वेत-नीले स्वप्न फूले धूप-छाहो के,
टिका चेहरा जब कभी गुमसुम हथेली पर
मौन अधरो थरथराये दिन गुनाहो के ।

बरसे मेह मुँडेर

फूल झरे वन टेसू
पात झरे झरबेर
उनयी घटा अँटरिया
बरसे मेह मुँडेर ।

नान्ही निमियाँ
हवा दुलारे
कागा बोले काँव
रहियन ढरकी
साँझ बोहरकी
सूना लागे गाँव

पिछवारे पोखर मे पडुक
की, टुभ-टुभ टिटकेर ।

हैम हिरन तन
अनमन डहके
सुधियन बान कमान
रैन बटोही
नीद निगोरी
बिरमै दर-दर प्रान

आँगन लरकी डरिया
हारिल करे बसेर ।

पतियन मंत्र झरे

नात नए अँखुवन सँग फूटे
डरियन सगुन फरे ।

कुसुमित देह
सुदिन रँग राती
बगियन मे रस बदन बराती

ढुर-ढुर नाइन धूप दुअरिया
चुन-चुन चौक भरे ।
ओरियन आम
बँड़ेरियन बौरे
बँसवरि मँडप सहिजन घौरे

बुहरे अँगना पीपर बभना
पतियन मत्र झरे ।

पछुवा झुरुकि
रतन तन खोले
रबी धनैतिन अँगना डोले

छरहरि धेरिया पाख अँजोरिया
सिढ़ियन पर उतरे ।

कहे तो क्या कहे

शाम के ऑसू
सुबह के कहकहे ।
बात सिरहाने धरे दिन
सो गए है
रात की बॉहे गहे ।

एक नीली पारदर्शी झील-सी
किसी बादल देह की हल्की उदासी
घाटियो पर छा गई है,
धूप का चश्मा लगाए चॉद ठहरा है,
किसी बूढ़े पेड़ की छाती-
बहुत कमसिन हवा के मन भा गई है ।

टहनियो मे
महकते पल महमहे
सो गए है रात की बॉहे गहे ।

कही तो ऊँचाइयो के ढग-सी
ओस धोई बर्फ नीले पर्वतो की,
वास्तो पर जम गई है

युद्ध बन्दी हुआ सूरज डूबते आकाश मे
सधि के प्रस्ताव-सी यह बड़ी कसबिन रात
आखिर थम गई है ।

कोई मुँह खोले
कहे तो क्या कहे ?
शाम के ऑसू सुबह के कहकहे ।

जाल हो गए दिन

आड़ी धूप
तिकोनी छह्यिाँ
गाँठ लगे पल-छिन
जाल ग गए दिन ।

ऑगन बखरी
सोनिल मछरी
झाँके साँझ मछेरी,
सतरग पगिया
सिर पर बाँधे
आए अतिथि अहेरी ।

गाढ़ी गहवर-
गाछ अँधेरी-
होती गई गझिन ।

झापकि रैन
झिमिर झिम बुँदिया
चमके कमर दुधारी,
नदिया पार
गिगी रस बिंदिया
घर-बाहर अँधियारी ।

सारी रात
सिसकियो बीती
डॉट पड़ी अनगिन ।

कल के कंधे

गोहुवन ठनके
रह-रह
मेढक निगल रहा अजगर,
रात-रात भर
बरखा के दरवाजे दुहरा डर ।

बढ़ी नदी के बोल
बूँद खपरैलो पर फुकारे,
बिजली चमके
लगे कि जैसे-
कोई खड़ा ओसारे ।

पल्लो बिन खिड़की-दरवाज़े
बिन मर्दों का घर ।

दूर
सुबह के धोखे मे
बोले कोई वन-पाखी,
सूनापन डग भरे
टेक ऄँधियारे की बैसाखी ।

लूले लँगड़े कल के कधो
भारी लगे उमर ।

खालीपन

आज कोई सतरगा बादल
नीले खालीपन पर उभरे ।

खिड़की के
सूनेपन मे
सारा सूर्योदय यो शरमाये
जैसे अधर-धरी अनबोली
कोई कथा
नयन पा जाये

धूप मुँडेरो से सहमी-सी
धीरे-धीरे जीना उतरे ।

एक समूचा स्वर
सपनो का
तन-मन पर ऐसे छा जाये,
जनम-जनम अनखिली डाल को
ज्यो सारा मौसम दुलराये ।

तट पर एक विहग अनमन-सा
लहराई आतुरता कुतरे ।

दूध भरे दिन

गेहुएँ गार दूध भरे दिन
चिकनी तुर्श हवाएँ,
फागुन की ढुर्रियाँ
चैत के कधो चढ़ती जाये ।

हरी बेल
भुवराई फलियाँ,
ज्यो घूँघट के बीच उँगलियाँ ।

कल परसो जाने-पहचाने,
छूटेगे नइहरे सिवाने ।

नीले फूल नयन शर्मीले
पातो छिपे लजाएँ ।

बापू की देहली अकुलानी
खेतो की
बेटियाँ नयानी,
मेड़ो जुड़ बिरमते बिरवे,
लिए पालकी खड़े कँहरवे ।

परछन करे पलाश
आम-सेमल
सौगात उठाएँ ।

पत्थर पर दूब

ऑगन मे नर्म-नर्म फूटती उजास
और
हिलती है पखड़ी गुलाब की ।
मेहदी के पत्तो-से
देह-रचे दिन
ऑखो मे शुभवन्ती शामे
हल्की सी एक छुवन
पल-छिन
गारी-रातो-सी पहचाने ।
पोर-पोर रगता है इतना मधुमास
और
बात गॉठ खोल रही बात की ।

कुछ भी अनहोना
अब रहा नही
सारा अपनापन तो अपना है
रंगो के मेले मे
एक रग
पत्थर पर दूब का पनपना है ।
यह भी क्या कुछ कम, है इतना विश्वास
और
साथ-साथ परछाई आप की ।

कौन विरागी !

हरे गोट की घँघरी पहने
साटन की ॲगिया,
छीट बुर्दाकियोदार ओढ़कर
लहक उठी बगिया ।
नदी हसिनी
छाँह नहाई
पानी हुआ मुरैला,
अड़हुल के
गुच्छे की पगड़ी
पर्वत लगता छैला ।
धूप-हवा के पहन पटोरे
निकला दिन जोगिया ।
गलियन-खोरिन
बजी सरगी
ॲबवन की छहियाँ
देह हुई
अधपके खेत-सी
कसक उठी बहियाँ ।
कौन बिरागी
बिना धुएँ की
बार गया अगिया ।

चेहरो के बौर

फागुन के ये फूलो वाले दिन
ऑगने-ओसारे पसर जाते,
अगुली मे फॉस-से गड़े दुर्दिन
पतझर के पात बन बिखर जाते ।

बच्चो की ऑखो-से हो जाते
हम सबके अपने आकाश,

ओठो पर अजुरी भर
उजियारा उग आता
बढ़ जाती जीने की प्यास ।

समय की पॅखुरियो के
रग सभी
एक गधवाह मे निखर जाते ।

ठूॅठे सबन्धो की टहनी पर
खिल जाते चेहरो के बौर,
हर फैला हाथ
कही बॅध जाता हाथो मे
थम जाता टूटन का दौर ।

आपसी अभावो मे
भर जाता अपनापन
दर्द बूद-बूद हो निथर जाते ।

छूटते शैवाल तट ने बंदगी की है

योग श्री पत्री लिखी है आम ने
और टेसू ने सही की है ।
एक पूरा जनम यादो का
हवा मे जोड़कर,
और पीली सॉझ का
आखिरी पन्ना मोड़कर,

फिर कपोती के गले मे
बॉध दी है ।

गहगहाई गध यह
फैली बनो की चाह-सी,
रेत मे दो हुई धाराये
नदी की बॉह-सी ।

छूटते शैवाल तट ने
बदगी की है ।

फूल केवल फूल वाले दिन
परिन्दो का चहकना,
डोर कधो पर धरे
पनिहारिनो का लौटना
लग रहा क्यो ऑख ने
कुछ भूल की है ।

स्वयं के फासले

आदिम आवेगो के ओंठो पर
इन्सानी लहू लगा ही रहा,
जंगल की आग जली की जली
प्रत्यागत पत्थर युग जी रहा ,
बढ़ने का अर्थ अगर वापसी
नाहक वीरान से नगर गए ।

उसूलो की सीढियॉ

मन के आकाशो मे
अहम की घटाये
सुबह-शाम बरस रही
केवल दुर्घटनाएँ ।

हाथो मे झण्डे
मुँह मे नारे ठूँसे,
मचो स तने हुए
शब्दो के घूँस-

अपने को या
अपने देश को दिखाएँ ।

दक्षिण की ऑधी का
उत्तर मुख होना,
आदतन हवाओ का
ऑकड़े पिरोना ।
चरागाह पनप रहे
डोल रही गाये ।

शका-दुविधाओं मे घूम
रही पीढ़ियाँ
ऐसे मे क्या करे-
उसूलो की सीढ़ियाँ

हम कितनी बार और
प्रजातन्त्र जन्माएँ ?

दिन को भी तारे

परदादा ने महल बनाया
बेटों ने बैठक चौबारे
नाती-पोते बना रहे क्यों-
अनगिनती अंधे गलियारे ?
सुख,
कोई सपना ही होता
सोते में तो
अपना होता
ये कैसा आकाश कि इसमें
दिन को भी दिखते हैं तारे ?
गलियारों
गमलों आलों को,
सड़कों पर
सोने वालों को,
'रहो जागते रहो जागते'
रात-रात संतरी पुकारे ।
बिना तेल-बाती के-
दिये
परदादा के
महल के लिए
आग हथेली पर ले आकर
जो चाहे आरती उतारे ।

शब्दो के साथ

कुछ भी तो पास मे नही
शब्दो के साथ के सिवा
इन्हे नही टोकना !

ओ राजा रानी
भाई-बन्धु अपने
बोलो पर पहरे से
मन लगता कँपने

खेतो खलिहानो दालानो मे
सुख-दुख की चार चार बाते
इन्हे नही रोकना !

गुहराती थी नन्ही बिटिया-
'आ दादी'
दीवारे दुहराती
कैसी आजादी ?

उत्तर प्रतिबन्धित कर
इतने सारे सवाल
हम पर मत थोपना !

ओ राजा-रानी
शब्दो के साथ के सिवा
कुछ भी तो पास मे नही !

धार-धार

तडपे हम धार-धार
नदी-नदी जिया किए ।
सूखे पर
सैलाबो की
आवाजाही
मिट्‌टी से
पानी की
मार-धड़ तबाही
पूरी पटकथा वही
शीर्षक नया दिए ।
दरिया दिल देश
सिन्धुवादी
मसूबे
बैल-गाय-बछड़े
हलधर
सब तो डूब
तटवर्ती सीमाएँ
ऑखो ़ लिए-लिए ।
तड़पे हम धार-धार

आ...द...मी...

रक्त मे डूबे हुए पजो सरीखे
फूल आलो मे लिखे ।

हॅसी निर्वसना निहत्थी नार-सी
खुले मुॅह की खिड़कियो से
निकलती है,
ऑख मूॅदे पार करती सुर्ख चौराहे
सिर झुकाये बुझे चेहरो से
गुजरती है ।

पहन नगापन निकलते
कहकहो के काफिले ।

खीच कर पर्दे, पहन कटोप-दस्ताने
घिर गए घर के
सुराखो मे,
झाड़ने पर आग कझाई बुखारी की
दबी चिनगी चिलकती है
जली शाखो मे ।

आ द मी
आकाश
दरिया
मील का पत्थर
पार करने को स्वय के फासले ।

मिट्टी की तासीर

आधे ऑगन धूप खिली है
आधे ऑगन बदरी,
ऊब उमस के बस्ते पर
आकाश चढाता अबरी ।

गई शब्द की बूँदा बॉदी
बातो का-सी झड़ी लगी है,
हटा पसीने पर से पहरा
कुछ करने की प्यास जगी है ।

पीले पात ले गई ऑधी
गाछ खोलती कबरी ।

उमड़ा यह आकाश
मिट गई खेतो की तनहाई
मिट्टी की तासीर पुरानी
करवट ले ॲगड़ाई

अभिषेकित परिवेश हो गया-
खड़ा, बॉध कर पगड़ी ।

शब्द बोते

शब्द बोते
जब कभी हम सृष्टि मे होते,
शब्द बोते ।
जनमता जब
अनकहापन
ओंठ पर होती अदेखी ॲगुलियॉं,
आदमी लगते अचानक पेड़ पौधे
बोलती हमसे
हमारी वनस्पतियॉं ।

भीतरी हिमपात मे
स्नायुओं के गर्म सोते ।
शब्द बोते ।
अर्थ अपनी ही प्रकृति का
अजनबी-सा खोलता
कोई अपरिचय

घास पर की ओस-से
निष्क्रिय पसीने
दहता की नदी को दे नया निश्चय
मौन के सैलाब मे
मरू भी भिगोते
शब्द बोते जब कभी हम

ठहरा हुआ इतिहास

मिला सागर के किनारे पर बसेरा
पीढ़ियो का जागरण
मेरा न तेरा ।

कहॉ सभव नीद का आना
रेत पर फैले हुए
इन रास्तो का क्या ठिकाना ।
लौटना दुश्वार
कितना कठिन लेकिन
पार जाना ।

यात्राओं के अजन्मे मोड़ पर
ठहरा हुआ इतिहास मेरा ।

उठ रही लहरे
कि प्रश्नाकुल निगाहे,
ज्वार की उत्तालता
आमत्रणो की-सी उछाहे,
डूबने या तैर पाने से बड़ी
आलिगनो को तनी बॉहे,

पीठ पर पहरा अनय का
पॉव हर प्रस्थान प्रेरा ।
मिला सागर के किनारे पर बसेरा ।

बदले संदर्भों मे

बदले सदर्भों मे
शब्दो के अर्थ-से
बदल गए प्यार के प्रतीक ।

सालता नही मुझे
अपने को औटना,
घिसे हुए सिक्के-सा
हाथो-दर-हाथो से लौटना ।

तोड़े, यह खोटापन ही तोड़े
पैरो से पिटी हुई लीक ।

अँगुली छू जाने से
उभरी जो थरथरी,
कर गई शिराओं का
मोह भग आखिरी ।

सूने की सिसकियाँ, अँधेरे की आर्तता
टूट गए बचकाने धागे बारीक ।

हाथो मे, अगली-
यात्राओं के हाथ हुए
कुछ खण्डित बिम्बो के
दृष्टि भेद साथ हुए

रिश्ते सधानी सौमित्र-से
काश! खीच सके अग्नि लीक ।

ये दिन भी मेरे

उजले तब
अब हुए अँधेरे,
मेरे वे भी दिन थे
ये दिन भी मेरे ।

पात-पात
टहनी-दर-टहनी,
उलझ गई
कहनी अनकहनी ।

आगो से
अनबुझे चिरागो तक
सुलगे इन ऑखो के डोरे ।

हाथो से अपना आकाश
कही छूटा है
भीतर का लेकिन विश्वास
नही टूटा है

रातो के सन्नाटे-
पर, धीरे से आते
गध-रूप-रग के सबेरे ।

पहरुए

खो गए है
'उई-आहा, उई-आहा'
शब्द, खेतो के मचानो
सो गए है ।

पास मे ठडे अलावो के
दुम दबाकर
चाटते है
ज़हर घावो के

पहरुए क्यो पस्त इतने-
हो गए है ।

उड़ रही है राख
रह-रह
हवा है चालाक
जो, ठण्डा रही है
हर सुबह

दिन नही
आभास दिन के हो गए है ।

फसल सारी चर रहे है,
खून नम तर
खेत
नगा कर रहे है ।

ढोर बूढ़े

बच्चे

सुबहो के लिए
सो गए बच्चे,
सपनो मे
वृद्ध हो गए बच्चे ।

रात-रात महलो मे
गुटुर-गूँ-गुटुर गूँ,
नीड़ो मे कहा-सुनी
पहले तू-पहले तू ।

रह-रह कर
पख फड़फड़ाने से
उचट गई नीद, रो गए बच्चे ।

धुन्ध और कुहरे मे
सूरज-आकाश नही
दबी हुई आग
सुलग जाए बस कही-कही

तो समझो
काले अँधियारे से
उन्मुखी भोर हो गए बच्चे ।

रोटी या राम-नाम

थप्पड़ के साथ
गई पीठ थपथपाई,
एक ऑख हॅसी
एक भीगी भर आई ।

थपकी के हुए
कभी
चॉटो के हो गए,
पेट-पॉव के
दुहरे पाटो के हो गए ।

चादर चीखी
जब-जब टॉगे फैलाई ।

कहते है-
जूझ और जोखिम से
क्यो डरते ?
कायर है, भोगी है
भूख लगे जो मरते ।

'हडडी के धनुष-वाण'
जीतते लड़ाई ।

सग्रामो से
सालिग्रामो तक
दिन तमाम
कब समझे, कौन बड़ा-
रोटी या राम-नाम ?

गगा को
'ज्यो की त्यो'
सौपी पुजहाई ।

नाम तक बिसर गए

अपना ही नाम तक
बिसर गए
हम इतनी सीढ़ियाॅ-
उतर गए ।

इतिहासो की इमारते
बनी कभी खून कभी स्याही से,
सब से ऑखे मूॅदे चल रहे
कितनी-कितनी बेपरवाही से!

कल, केवल आयुध-
रह जायेगे
इसी तरह भूलते
अगर गए ।

पॉवो से पृथ्वी के सग-साथ
छूटेगे, जुड़ेगे हवाओं से
होगे ही चॉद और तारो पर
समारोह कीमती ध्वजाओं के

सुबहे न आने की
शर्तों पर
ॲधियारे हस्ताक्षर
कर गए ।

आदिम आवेगो के ओंठो पर
इन्सानी लहू लगा ही रहा,
जगल की आग जली की जली
प्रत्यागत पत्थर युग जी रहा ।

बढ़ने का अर्थ
अगर वापसी

नाहक बीरान से
नगर गए ।

हम इतनी सीढ़ियाँ उतर गए,
अपना ही नाम तक बिसर गए ।

बन्धु मेरे

मित्र मेरे
कुछ कदम तो साथ चलते ।
सिर्फ रिश्ते भर नही थे
टूटने को-
काँच,
कच्चे सूत,
आईने पुराने,
मौन,
जडता,
कम नही थे
सखा मेरे
चार दिन तो हम नही चेहरे
बदलते ।

आपसी अभ्यर्थना के
वे
अनोखे क्षण
सुबह के
सूर्य-से
अपने मिलन के
प्रार्थना के
बन्धु मेरे
कुछ क्षणो निष्काम बहते ।

एक अजब ग्लेशियर किनारे

भाषा के खुशनुमा मुहावरे
अक्षर की उर्वरता पर उभरे
शब्दो की शक्ति के लिए जिये
शब्दो की मुक्ति के लिए मरे ।

झाड़ी मे सुरखाब

खोपे दुबका उड़ा कबूतर
पर फड़काये मैना,
नीद गई रतजगे जगे मे
ऑखो बीती रैना ।

खुली हवा मे
मुट्‌ठी बॉधे,
हाथ बॅसौटा
कबल कॉधे,

खेतिहर काटे ओंठ दॉत से
बॉझिन गाय हटै ना ।

आग हो गई-
धुऑ-धुऑ-सी
रात दे गई
दिन को फॉसी

झाड़ी मे सुरखाब फॅस गई
कॉटो उरझा डैना ।

प्रश्न-वृक्ष

प्रश्न-वृक्ष हो गए आदमी
चेहरे हुए सवाल ।

ये बगुलो की पॉत
झील पर
उतरे हुए मछेरे,
मन मछली-सा कॉपे
कितने बन्धन कितने घेरे ?

लहर-लहर पर
डर बुनता है
गए दिनो के जाल ।

लगते है
जाने-पहचाने-से
फूलो के किस्से,
धूप-हवा की सीनाजोरी
अपने-अपने हिस्से ।

कितने करतब
दिखा चुके दिन
फिर भी नही मलाल ।

यह भी क्या कम
""ध-स्वाद का
मोह अभी भी बाकी

चटखारे
भरती इच्छाये
सौ-सौ 'बूढ़ी काकी'

शायद भटके-से
दिन लौटे
दिन के कहॉ दुकाल ।

वक्त का जंगल

मछलियाँ कुछ
उछल कर डूबी
सिहरकर थरथराया जल
नील गायो-से दुबकते दिन
पार करते वक्त का जगल ।
बने बेआवाज घेरे
सतह पर
खुरो से रौदे गए तिनके
डूबने के कई आकुल अर्थ जैसे
बीनता रखता हुआ गिन के
तलहटी मे
उतरता है मौन चरवाहा
किरण का डडा रामेटे धूप का कम्बल ।
घिर गया फिर मौन
चुप्पी, खौफ, सन्नाटा
कहो या रात,
यह प्रतीक्षा है गए की
या नए की
सोचने, सोने या सोकर जागने की बात
रास्ते नीली नदी के घाट पर
ढूँढ़ते उस पार जाने का
कोई सम्बल ।

वसंत (१)

छुए गए
गए दर्द-सा
वसत आ गया,
सारे आकाश की
तलाशे धुँधला गया ।

रूप-गध
रस भरी
हवाओं को क्या करे,
ऑसू तक
हँसने की
चावो का क्या करे ?
हर दिन
इतनी सारी शामे
छितरा गया ।

विन हुए
वसत, गए-
कितने वासती दिन
सारा जग
महके
अपने-अपने ही पल-छिन
मौसम भी
अपनी लाचारी
दुहरा गया ।

वसंत (२)

फूलो से लदी हुई डालियॉ
छुओ नही
गध लिखे ये वसत
उनके है ।

नदी हुई किन्नरी
कछार हुए देवता
पानी मे रग
रग मे पानी कॉपता

यहॉ-वहॉ उठी हुई उँगलियॉ
छुओ नही
प्रश्न लिखे ये वसत
उनके है ।

सतरगे झरने है
लेकिन क्या करने है ।
इन्द्र धनुष
आकाशो से
नही उतरने है ।

कानो मे कगन-सी बालियॉ
छुओ नही
वृत्त लिखे ये वसत
उनके है ।

ऑखो मे सपने है
क्या हुआ न अपने है ।

पलको से ओठो तक
रह-रह के कॅपने है
खुशबू-सी उड़ती खुशहालियॉ

छुओं नही
शब्द लिखे ये वसत
उनके है ।

फूल वाले रास्तो पर

साथ तेरे चल रहे है,
हम
हथेली पर हथेली
मल रहे है ।

खुशबुओं की यह नुमाइश
काश!
छूती [illegible] की सवेन्दना,
हवा मे चोरी गई
फिर लौट आती
गध की अपनी अचर्चित चेतना ।

आज तक
हम फूलपन के लिए
ढोते कल रहे है ।

लिख उठा लम्बी प्रतीक्षा पर
शुक्रिया-सा
एक कोई नाम

धन्यभागी आस्तिकता मे
कर लिए मन मे ही
चारो धाम

एक [illegible] पर्याय
पूजा मे लगे
हर पल रहे है ।
हम हथेली पर हथेली मल रहे है ।

रह गई कहानी

राजा ने पाया सिहासन
रानी को मिल गया सुहाग,
बाकी बस रह गई कहानी
कभी राजधानी मे सुलगी थी आग ।

कागज के घोड़ो पर
थे सवार
सेना के आली-मौआली,
रोटी के युद्ध मे
चली गई
चौके से कॉसे की थाली ।

चीखना मना, वर्जित चिल्लाना
बेबस उकता करके
सभी गए जाग ।
कसमो की नई करामातो से
शुरू हुए फिर
हवाई हमले
हारना तो है आखिर हारना
युद्ध, समय आधिक
चाहे कम ले ।
उभर गए
अदने अभिप्रायो से
आपसी अभावो के
दबे हुए दाग ।
सब तो अपने-अपने दामन से

अपनी ही तसवीरे
पोछ रहे,
नक्शे पर जमी धूल है जमी
बातो से
ऑधियॉ अगोछ रहे ।

बीते दिन
बदल कर मुखौटे
वापस आ जाने को
सूँघते सुराग ।

अपने-अपने सत्य

बातो के बॅटवारे
जीभ हुई आधी
आई अपने-अपने
सत्यो की ऑधी ।

गली-गॉव पूछ रहे है
उड़ते पॉवो से
पचो ! परिणाम हुए क्या-
सभी चुनावो के ?

पुलिस से सवाल करे
जैसे प्रतिवादी ।
हर नया विजेता
ले आया कुछ आद-वाद

वध्या का वश, लगे-
अपने को बीज-खाद
पॉच का पचास हुआ
बाढ़-ऋण मियादी ।

दिखे नही देस-कोस
वृक्ष और शाखे
घूम रहे लोग, लिए-
अर्जुन की ऑखे

सिरहाने श्री निवास
पैताने गॉधी ।
आई अपने-अपने
सत्यो की ऑधी ।

युद्ध विराम

माथे पर खुरदरी उँगलियाँ
मन मे एक अनाम
आहत सैनिक के सिरहाने
गुमसुम बैठी शाम ।

चन्दन की मानिन्द
घिसे हम सुर्ख हथेली,
आग अजन्मी
सघर्षों की बनी पहेली ।

जीत-हार के पहले ही
समझौते युद्ध विराम ।

फूलो की पर्याय जिन्दगी-
मिली न बाँटे
युद्ध, अधूरे इतिहासो के-
मुँह पर चाँटे

कनपटियो पर
उम्र लिख गई
कायर नमक हराम ।

झण्डो-से

हर नये सबेरे सग
उठे, गुनगुनाये
ठहर कर पसीने फिर-
कहाँ पोछ पाये ।

बढ़ी हुई नदी
दिखे पाट आर-पार के,
उफनाते भँवर गए
दिन हुए उतार के ।

एक लहर बोध लिए
हम वापस आये ।

साँझो के ढग
कभी रग मुँह अँधेरो के,
हमने कधो ढोये
घर भी बहुतेरो के ।

बदले मे
झण्डो-से
हम गए उठाये ।

पत्ते नही हिलते

ये, दिशाये घेर कर
बहती हवाये
सॉस की दुश्मन ।

पेड़, जैसे बोलने को है
मगर पत्ते नही हिलते
ऑधियो के नाम
शाखो के सिरे
फॅसते उलझते

'रोशनी' इतनी कि
ऑखे खोलने को
नही करता मन ।

हो गए दो पॉव पहिये-से
पीठ पर परिवेश ढोने को
टूट कर दीवार से
अपनी गिरी तसवीर

हाथ, जैसे बने केवल फर्श धोने को
द्वार पर के नीम मे
बूढ़े परिन्दे फड़फड़ाते
लग रहा यह घर नया निर्जन ।

आठवाँ दशक

खण्डित सपने
समग्र क्राति की कसक
लिए हुए बीत गया
आठवॉ दशक ।

शीशो के दिल दिमाग वाली
महलो की महरिन-सी
झुग्गियॉ
बूटो बदूको के पॉव ढके
अनुशासन पर्वो की
लुगियॉ

सपनो का एक स्वर्ग
सुलग रहा आखो मे
नाको निन्यानबे नरक ।

नव जवान प्रश्नो की पीठ पर
हाथ फेरते
बूढ़े समाधान,
लाल बछेड़ी की पीली लगाम
हर पड़ाव
सब के अपने मकान,

ठहरी यात्राये
गति की केवल चर्चाये
अधो की अकुलाहट क्या करे सड़क ?
रातो के रेवड़

विश्वासो के बजर पर
मरियल घासो-सी घटनाये,
सूखे आषाढ़ो की
उँगली थामे-थामे
दिन चलते है दाये-बॉये,

कुबड़ी काया सँकरे सीने वाली नदी
पानी की पीड़ा से
सूखता हल्क ।

धुआँ पिये

सागर की लहर-लहर पर नाचे
ऑधी को ओंठ से छुए
क्यो लगता व्यर्थ हम जिए ।

चॉदनी कही न थी
रातो का हॅसना था,
स्वप्न जिए औरो ने
सिर्फ नाम अपना था ।

इर्द-गिर्द गहराते घेरो से
बदले मे मोल की हॅसी लिए
क्यो लगता व्यर्थ हम जिए ।

मिट्टी की नीयति थी
चाको पर चढ़ना था,
जीवन का गीलापन
गैरो को गढ़ना था ।

बार-बार जलते है, बिन पके निकलते है
ऑवे की ऑच से धुऑ पिए,
क्यो लगता व्यर्थ हम जिए ।

प्यास के परिन्दे

आए थे बाढ़ की नदी लिए
लौटे-चुल्लू बाँधे-बाँधे ।
पर्वत की पीड़ा-से पिघले
शिखरो की देह से ढहे
उफ, कितना पानी, कितना प्रवाह !
सीमाये तोड़ कर बहे

रेतीले टापू से टूट कर
बेतरह बँटे आधे-आधे ।
सोते सम्बन्धो के सूखे
बालू मे उगे वन बबूल,
पानी की परिणति पर साँय-साँय
उड़ती सूनेपन की धूल ।
पिजरे मे प्यास के परिन्दे हम
जीते है दम साधे-साधे ।

एक अजब ग्लेशियर किनारे

एक अजब ग्लेशियर किनारे
राही
रुके हुए सब ।
भीतर का पानी अदहन-सा
बाहर जमी बरफ है
एक तरफ छाती तक दलदल
अगम
बाढ़ का दरिया
एक तरफ है
मनमानी बह रही हवाये
जगल झुके हुए सब ।
बद द्वार
अधखुली खिड़कियाँ
झाँक रही कुछ आँखे
सूरज के मुँह पर सध्या की
काली
अनगिन
तीर सरीखी
चुभती हुई सलाखे
अपने चेहरे के पीछे
चुप
सहमे लुके हुए सब ।